

## बी० ए० पार्ट-1 हिन्दी साहित्य (प्रतिष्ठा)

डॉ० आशा कुमारी

अतिथि व्याख्याता

हिन्दी विभाग

मगध महिला कॉलेज, पटना

मोबाइल नम्बर-9304098602,7004661162

Email \_ [ashakumari2500@Gmail.com](mailto:ashakumari2500@Gmail.com).

### आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

आदिकालीन साहित्य कथ्य, भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है। उसमें चार प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं:-

- (१) सिद्धों नाथों तथा जैन मुनियों की उपदेशात्मक धार्मिक रचनाएँ।
- (२) लौकिक रस से अनुप्राणित रचनाएँ (संदेशरासक, बीसलदेव रासो)
- (३) फुटकल विविध विषयों की कविताएँ
- (४) वीर रस से अनुप्राणित चारण चरित काव्य।

इस काल में मुख्यतः तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं:-

- (क) धार्मिक
- (ख) वीरगाथात्मक
- (ग) श्रंगारिकता

शुक्ल जी ने आदिकाल की धार्मिक रचनाओं का उल्लेख तो किया है, लेकिन उन्हें 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति' के दर्शन हुए हैं। उन्होंने लिखा है- 'आदिकाल के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परम्पराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिए करना पड़ा कि कबीर प्रवर्तित निर्गुण संतमत के प्रचार के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों एवं योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आती और योगधारा काव्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।' शुक्ल जी योगधारा को साहित्यिक प्रवृत्ति मानते थे। वे यह भूल

गए कि इसी योगधारा में लोकचेतना की स्वभाविक अभिव्यक्ति हुई। जिन रचनओं को शुक्ल जी साहित्यिक मानते हैं, वे अप्रमाणिक या संदिग्ध रचनाएँ हैं। नामवर सिंह जी ने शुक्ल के मत का खण्डन करते हुए कहा है:—‘जो रचनाएँ साहित्यिक हैं, वे संदिग्ध हैं और जो असंदिग्ध हैं, वे असाहित्यिक हैं। साहित्यिक और असंदिग्धता के इस विरोध में इतिहासकार को असंदिग्धता का ही पक्ष लेना पड़ेगा क्योंकि विचार से तथ्य प्रबल होता है।’

यह भी सही है कि साहित्यिकता को जाँचने—परखने की क्रिया विषयनिष्ठ प्रक्रिया है। एक ही रचना किसी की नजर में साहित्यिक हो सकती है तो किसी दूसरे की नजर में असाहित्यिक।

बौद्धों, नाथों, सिद्धों, जैनों आदि की रचनाएँ हिन्दू धर्म की रूढ़िग्रस्त धर्म—भावना से मनुष्य को मुक्त कर सहज सत्य का साक्षात्कार करा रही थीं। ये लोक चेतना से जुड़ी हैं। जनता की आशाएँ—आकांक्षाएँ, उनका दुःखदर्द, उनका असंतोष, उनकी चिंताएँ इन्हीं रचनाओं के जरिए सामने आ रही थी। वैसे यह सही है कि उनकी भावनाओं पर लोक—जीवन के अंधविश्वासों, टोना—टोटका आदि प्रथाओं की छाप है, फिर भी उन सब के बीच से उनके दुःख—दर्द, विश्वास तथा कभी—कभी कल्पना लोक में आनन्द प्राप्त करने की आकांक्षा उनमें प्रकट होती है। दरबारों में रचे गए परिमार्जित और अलंकृत काव्यों की तुलना में ये ग्रामीण काव्य अनगढ़, कच्चे और सीधे—साधे लग सकते हैं, लेकिन इसमें सत्य की संभावना अधिक है।

डॉ० नामवर सिंह तो शुक्ल जी की स्थापना के विरोध में धार्मिक प्रवृत्ति को ही इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हैं। उनका कहना है —“ हिन्दी साहित्य के आदिकाल में प्रवृत्तियों की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जंगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थी। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः विद्यमान थी। पहली का सम्बन्ध सांमंतों के चरित—वर्णन, युद्ध—वर्णन, केलि—विलास, बहु—विवाद के लिए विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढ़ि—विरोध, बाह्याडम्बर खण्डन, जाति—भेद की आलोचना उच्चतर आचार व्यापक भागवत—प्रेम, माननीय आत्मगौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित योगधारा ।’

स्पष्ट है कि योगधारा को नामवर जी विद्यमान एवं विकासशील प्रवृत्ति मानते हैं।

शुक्ल जी की दृष्टि में इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति वीरगाथात्मक है, लेकिन जिन रासों ग्रंथों के आधार पर उन्होंने वीरगाथात्मकता को प्रमुख प्रवृत्ति माना था, उनमें से अधिकांश अप्रमाणिक है। दूसरी महत्वपूर्ण बात— इस काल की वीर—भावना अत्यंत संकुचित एवं संकीर्ण थी। उसमें वीर रस के उदात्त रूप के दर्शन नहीं होते। आश्रयदाताओं की उचित—अनुचित प्रशंसा करना कविगण अपना कर्तव्य मानते थे। उनमें राष्ट्र के व्यापक हित

की चिंता दिखायी नहीं देती। कवियों ने राजाओं की दंपितियों का जो अंकन किया है, उनमें नवीनता है। जगनिक चन्दबरदाई आदि की वीर रस से पूर्ण कविता में जनता के चित्त को ओज से भरने की पर्याप्त शक्ति थी, फिर भी इस काल के अधिकांश चरित काव्यों में युद्ध विवाह आदि के परम्परागत वर्णन कहीं-कहीं परिपाटी के अनुपालन से भी लगते हैं। रूढ़ियों एवं परिपाटियों के अत्यधिक समावेश के कारण इन चरित काव्यों में नवीनता कम, प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखायी पड़ता है

एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन काव्यों की विषय-वस्तु का सम्बन्ध किसी एक राजा से ही नहीं, बल्कि कई-कई राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है। अतः इनका आकार रचनाकारों की मृत्यु के पश्चात् भी बढ़ता रहा है। रासो काव्यों को देखने से ज्ञात होता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित्र का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित्र भी सम्मिलित करा देते थे। इसलिए ये काव्य वंश-कथा से लगते हैं तथा इनकी भाषा में भिन्न-भिन्न शताब्दियों की भाषा के विभिन्न नमूने मिलते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि ये तथाकथित वीरगाथा काव्य प्रामाणिक नहीं हैं। साथ ही ऐसी वीरगाथाएँ सामान्य जनता की अभिलाषाओं को निरूपित नहीं कर रही थीं। यदि जनता राजा की जय-पराजय से उदासीन है तो राजा को केन्द्र में रखकर रचा गया साहित्य जनता का साहित्य नहीं कहा जा सकता। इनमें सामान्य जनता उपेक्षित ही रह गई है।

वीरगाथा काव्य शुद्ध वीर रस के काव्य न थे। उनमें श्रृंगार का पर्याप्त मिश्रण था। वैसे तो आचार्य शुक्ल ने श्रृंगार को वीरगाथा काव्य की गौण प्रवृत्ति माना है, लेकिन वे स्वीकार करते हैं कि—‘जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी।’

शुक्ल जी की यह बात सही हो तो मानना पड़ेगा कि वीरगाथा काव्यों की मूल प्रेरण भोग-विलास की कामना ही थी। ‘बीसलदेव रासो’ में तो शौर्य के वर्णन के बदले श्रृंगार की अधिकता है। इसके अलावा आदिकाल में एकाध ऐसी प्रेमपरक रचनाएँ लिखी गई जिन्हें राजाश्रय से मुक्त कवियों ने लिखा था। ‘संदेशरासक’ ऐसी ही रचना है। इसमें हृदय की सच्ची प्रेम भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ‘रासों में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और ‘संदेशरासक’ में भीतर का।

‘रासों’ नये-नये प्रेम का रोमांस प्रस्तुत करता है और ‘संदेशरासक’ पुरानी प्रीति को निखार देता है। यह एक विरह काव्य है। इसी तरह ‘बीसलदेवरासो’ भी एक विरह काव्य है। श्रृंगार की दृष्टि से दोनों की भावधाराएँ समान हैं। इनमें नारी के सहज श्रृंगार से लेकर उसके मानसिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति इन काव्यों की उपलब्धि है। नखशिख वर्णन, विरह

के विभिन्न रूप, विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास संदेश प्रेषण, स्वकीया और परकीया के प्रेम की सीमाएँ—ये सब आदिकाल के कथ्य में अन्तर्निहित है।

विद्यापति ने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में इतिहास पुरुषों की वीरगाथाएँ ही लिखी है, लेकिन 'विद्यापति की पदावली' जिसे आचार्य शुक्ल ने फुटकल खातों में रखा है, इसमें भक्ति एवं श्रृंगार के अनूठे उदाहरण मिलते हैं। अपने इतिहास में आचार्य शुक्ल ने विद्यापति को श्रृंगारी कवि कहा है, जब कि केशव प्रसाद मिश्र उन्हें भक्त कवि मानते थे। इनमें हमें आदिकाल की तीनों प्रमुख प्रवृत्तियाँ विद्यमान मिलती हैं—'कीर्तिलता' एवं कीर्तिपताका में वीररसात्मकता एवं पदावली में श्रृंगार एवं भक्ति। 'पदावली' में पहली बार राधा एवं कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों को गेय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अमीर खुसरों की पहेलियों में मनोरंजन एवं जीवन पर गहरे व्यंग्य एक साथ मिलते हैं। इनकी रचनाएँ लौकिक साहित्य के अंतर्गत ही आती हैं इनके अलावा 'ढोला मारू रा दुहा', 'वस्तु विलास' 'जयचंद प्रकाश' आदि रचनाएँ भी लौकिक साहित्य को गरिमा प्रदान करती हैं। इनमें स्वच्छंद रूप से श्रृंगार का निरूपण किया गया है। आदिकाल की भाषा अपभ्रंश से तुरत-तुरत निकली हुई देशभाषा है। एक ही काल के रचनाकारों में कोई अपभ्रंश लिख रहा था तो कोई देशभाषा; कोई-कोई अपभ्रंश एवं देशभाषा दोनों में रचना कर रहा था। उदाहरण के लिए:—कवि विद्यापति एक ओर अवहट्ट का प्रयोग कर रहे थे तो दूसरी ओर 'देसिल बयना सब जन मिठा' का।

आदिकाल की दो अन्य महत्वपूर्ण शैलियों के नाम हैं—डिंगल तथा पिंगल। वीर रस की रचनाओं में डिंगल शैली का प्रयोग होता था। इनमें हिन्दी-बोलियों के कर्कश-शब्दों की भरमार थी। पिंगल शैली में कोमल भावों को प्रगट किया जाता था। इनमें कवि कोमल शब्दावलियों का प्रयोग करता था। डिंगल की कर्कश शब्दावली सीमित थी। अतः इस शैली के साहित्य का अधिक विस्तार न हो सका। इसके मुकाबले पिंगल शैली लोकप्रिय होती चली गई। कुछ लोग भ्रमवश डिंगल को राजस्थानी भाषा का पर्याय मानते हैं। दरअसल डिंगल भाषा नहीं बल्कि भाषा की एक शैली है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आदिकालीन प्रवृत्तियाँ कई रूपों में मुखरित होती हैं। इसके अंतर्गत तत्कालीन समाज के लिए आवश्यक वीरता की भावना का प्रसाद, गुरु का महत्व, सांस्कृतिक समन्वय की चेतना (रासो कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों को साम्प्रदायिक रंग न देकर बल्कि एक सूत्र में बाँधने का काम किया है।

**सहायक पुस्तकें**

- (1) हिन्दी साहित्य का इतिहास— डॉ० नगेन्द्र
- (2) हिन्दी साहित्य का इतिहास— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
- (3) हिन्दी साहित्य : एक परिचय—डॉ० फणीश सिंह